DATE: __/__/____
PAGE: ____

349-

अगहन देवस घटा निसि बाढ़ी। .....
सुलगि सुलगि दगधै मै बारा ...
सो धनि बिरहैं जरि गई तेहिक धुआँ हम लाग॥ ---

भावार्थ- अगहन में दिन घट गया और रात बड़ी हो गई। मेरा दुःख बड़ा दुभर है। यह रात कैसी बीतेगी। अब तो बाला को बिरह के कारण दिन भी रात हो गई है। वह विरह में दीपक की बत्ती की तरह जल रही है। शीत ने अपना प्रभाव जताया है, उससे हृदय काप रहा है। गृहि प्रिय संग में हों, तभी शीत जाता है। घर-घर में सबने शीत के नए वस्त्र निकाले हैं। मेरा रूप रंग स्वामी के साथ चला गया। वह बिदेशी जब से गया; नहीं लौटा। अब भी लौट आवे तो वही रंग फिर आ सकता है। ठंडक आग बनकर बिरहनी का हृदय जलाती है। वह हृदय सुलग-सुलग कर जलने से राख हो गया है। कन्त यह दाह का दुःख नहीं जानता जो यहाँ मेरा यौवन और जन्म भस्म कर रहा है। रे भौंरे रे काग यह संदेश प्रिय से जाकर कह देना- वह बाला विरह में जल गई। उसी का धुआँ हमें लग गया है।

350-

पूस जाड़ थरथर तन काँपा - - - - - -
चीन सारस लेइ सरि दुई भाइ समेटहु पंख - - -

भावार्थ- पूस के महीने में जाड़े से शरीर थर-थर काँपता है। उस समय सूर्य भी जाड़ा लगने से लंका की ओर जाकर तापता है। विरह के बढ़ने से शीत और दारुण हो गया। मैं काँप-काँप कर मर रही हूँ वह मेरा प्राण लिए जाता है स्वामी कहाँ हैं जो मैं उनके हृदय से लगूँ मार्ग अपार है। निकट की वस्तु भी मुझे नहीं सूझती जाड़े के ओढ़ने बिछाने के वस्त्रों में भी घुसी जाती है मानों सेज हिमालय की बर्फ में डूबी हो। चकवी रात को बिछुड़कर दिन में मिल जाती है। पर मैं रात दिन विरह में कोयल बनी पुकार रही हूँ। रात में अकेली वह जाती है सखी भी साथ में नहीं होती। मैं कैसे जिऊँ जब मेरी जोड़ी पक्षी बिछुड़ा हुआ है विरह रूपी सचान भयंकर रूप में शरीर के चारों ओर मँडरा रहा है कि जीते जी ही खा ले, मरने पर तो किसी तरह न छोड़ेगा। विरह में उसका रक्त आँसू बनकर ढल गया, माँस गल गया, हड्डियाँ सूखकर शंख हो गई। बाला सारस की जोड़ी की भाँति रटती हुई मर अब गई। हे पिय, अब आकर उसके पंख समेट लो।

लागेउ माँह परै अब पाला ....
बिरह पर बिरह जराइ कै चहै उड़ावा झोल .....

भावार्थ- माघ का महीना लग गया। अब पाला पड़ने लगा। जाड़े की ऋतु में विरह - काल हो गया। शरीर के अंग अंग को जैसे - जैसे कई से ढकते हैं वैसे - वैसे हर - हर कर हृदय अधिक काँपता है। हे प्रिय सूर्य के समान आकर तपो। उसके बिना माघ में जाड़ा नहीं दूर होता। इसी मास में उस रस का फल उत्पन्न होता है जो वसन्त में वनस्पतियों पर फूल रूप से प्रकट होता है। मेरे आँगन नयी पुष्प का रस लेने वाले तुम भौंरे हो। मेरे नेत्रों से आँसू ऐसे चू रहे हैं जैसे माघ की वृष्टि में जल उससे शरीर जलता है और वस्त्र बाण से लगते हैं। ईंधे टूटकर ओले जैसी गिरती है। विरह पवन बनकर उन ओलों का झोला मारता है। अब किसका शृंगार किया जाए और कौन पटोरा पहने! मेरे कंठ में हार नहीं रहा। मैं उस हार का डोरा मात्र हो गई हूँ हे कंत, तुम्हारे बिना बाला सूखकर हल्की हो गई है। उसका शरीर तिनके की तरह इधर- उधर डालता है। उस पर भी विरह जलाकर उसकी राख उड़ा देना चाहता है।